सर्ग षष्ठ

मन्त्रणा

(सार छन्द)

बीती अवधि और हम बैठे,
क्यों विराट के गृह में।
बारह वर्ष वनों में भटके,
निरत[1] आत्म - निग्रह[2] में।
और प्रतीक्षा सह्य नहीं अब,
यान करो गजपुर[3] पर।
बोले भीम करूँ जी हलका,
बोझ बहुत है उर पर ॥1॥

गदाघात से चूर्ण करूँ वह
जंघा दुर्योधन की।
दुःशासन के हृदय रूधिर से,
प्यास बुझेगी मन की।
बिंधे शरीर वृषल[4] वृष[5] का भी,
अर्जुन के बाणों से।
पाण्डव राज्य नींव सिञ्चित हो,
इन पापी प्राणों से ॥2॥

---

1. लगा हुआ; 2. नियमन नियंत्रण; 3. हस्तिनापुर; 4. नीच कुल का; 5. कर्ण।

तोड़ो मौन कहा कृष्णा[1] ने,
बैठे आत्म भुलाकर।
धर्मराज चुप बैठ रहे,
जाया[2] अपमान कराकर।
गजरिपु[3] से अब टूट पड़ो,
बन जाओ वैरिनिषूदन[4]।
क्या न गूंजता अब तक,
कानों में अबला का क्रन्दन ।।3।।

बोले तभी वृकोदर अग्रज,
क्षम्य धृष्टता मेरी।
जब जब नर की शक्ति,
चिन्तना निष्क्रियता ने घेरी।
तब तब क्षपितसार[5] नर केवल,
भार व्यथा का ढोता।
मान सहित जीने का भी,
अधिकार सदा है खोता ।।4।।

शम दम और तितिक्षा[6] से हैं,
षड्रिपु[7] जीते जाते।
उच्च भाव बर्बर पशुओं को,
कहाँ समझ में आते।
ज्ञान दीप धूमिल हो जाता,
जलतीं जभी मशालें।
चकाचौंध छा जाती है जब,
उठतीं हैं करवालें[8] ।।5।।

---

1. द्रौपदी; 2. पत्नी; 3. सिंह; 4. वध करने वाला; 5. बलहीन।
6. सहिष्णुता; 7. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य ये छः शत्रु;
8. तलवारें।

ज्ञान विवेक हलाहल[1] हैं यदि,
वे कायर करते हैं।
अज्ञानी वे भले मानहित,
जो जीते मरते हैं।
निष्क्रियता-निर्भरता-वर्धक,
सच्चा धर्म नहीं है।
उदासीनता से बढ़कर कोई,
दुष्कर्म नहीं है ।।6।।

वृद्ध दन्तनखहीन सिंह से,
श्वान नहीं डरते हैं।
उसकी गुरू हुँकार दबाकर,
अपने स्वर भरते हैं।
कहलाता वनराज राज,
रह जाता मात्र दरी[2] पर।
अशिव[3] शिवारूत[4] सुनता हरि[5] भी,
निज को छोड़ हरी पर ।।7।।

प्रतिपल प्रतिक्षण गतिमय रहना,
ही संसार नियम है।
परिवर्तन सातत्य अनुज अवधार्य[6],
धार्य संयम है।
असमय का आरम्भ स्रोत हो,
सकता है आमय[7] का।
सबसे सफल व्यक्ति होता है,
ज्ञाता उचित समय का ।।8।।

1. विष; 2. गुफा; 3. अमंगलकारी; 4. गीदड़ियों का रोना; 5. सिंह 6. समझकर;
7. कष्ट, रोग हानि।

काल[1] विपुल बलधारी से भी,
बलवत्तर[2] होता है।
नहीं अनल[3] का सदा अनल,
ही प्रत्युत्तर होता है।
अभी शान्ति हित ही उद्यम[4],
करने दो तुम केशव को।
मरता नय[5] यदि कुरूगृह में,
गिरने दो उसके शव को।।9।।

प्रखरधामयुत[6] नर पावक-वत,
सकल दोष हरता है।
ज्वलित एक कण की न उपेक्षा,
मनुज कभी करता है।
उष्ण पवन ही उठ सकती है,
अम्बर में कुछ ऊपर।
शुष्क-पत्र-दल-रज-समूह,
उड़कर भी गिरता भू पर।।10।।

समदर्शी[7] नीतिज्ञ मात्र शम[8],
अभिनन्दित करते हैं।
दण्ड भेद को आप अकारण,
क्यों दण्डित करते हैं।
नीति करेणु[9] एक पद से,
क्या गतिमय हो सकती है।
कपटाचारी के प्रति ऋजुता[10],
क्षतिमय हो सकती है।।11।।

---

1. समय; 2. अधिक बलवान; 3. अग्नि; 4. उद्योग, प्रयास; 5. नीति; 6. असह्य तेज युक्त; 7. सब पर समानदृष्टि रखने वाला; 8. शान्ति; 9. हथिनी; 10. सीधापन।

समतल भूमि हो कि जलतल हो,
सर्प कुटिल गति चलता।
आर्जव कितना भी दिखलाओ,
धूर्त सदा है छलता।
समतल पर भी वक्रमार्ग हो,
सरिताएँ बहतीं हैं।
प्रकृति नहीं छोड़ता कहीं,
कोई भी यह कहतीं हैं।।12।।

टिकता नहीं प्रशासन कोई,
छलबल पर आधारित।
जन मानस श्रद्धा का भारत[1],
करो मूल्य अवधारित।
नहीं किरीट[2] छत्र में बसती,
असि में सिंहासन में।
प्रभुसत्ता निवास करती है,
प्रमुदित जनगण मन में।।13।।

बोले केशव राज्य प्राप्ति तक,
नहीं प्रश्न यह सीमित।
इन्द्रप्रस्थ का छत्र भीम है,
लक्ष्य बड़ा ही परिमित।
तुम्हें मिटाना है भूतल से,
कितव क्रूरता छल को।
दर्प असूया[3] द्रोह दलन में,
दिखलाना भुजबल को।।14।।

---

1. हे भरतवंशी; 2. मुकुट; 3. ईर्ष्या; ।

झेल रही है यह मानवता,
सतत अरति[1] भूयिष्ठा[2]।
डोल रही है जनता की,
मानव मूल्यों में निष्ठा[3]।
पुनः प्रतिष्ठा करनी है अब,
धर्म शान्ति समता की।
इसमें विकट परीक्षा पाण्डव,
कौशल की क्षमता की ।।15।।

नीति ज्ञान हो विपुल बाहुबल,
हो शस्त्रों में पटुता[4]।
अनुशासन हो और धर्म हो,
नहीं परस्पर कटुता।
मातृभक्ति सम्मान गुणी का,
निर्बल-त्राण[5]-शरासन।
पाण्डव ही दे सकते भू को,
ऐसा स्वच्छ प्रशासन ।।16।।

वैसे तो न प्राणधर कोई,
क्षण को निष्क्रिय रहता।
प्रतिक्रिया ही मात्र करण[6] की,
इसको ज्ञानी कहता।
वही क्रिया कहलाती जिससे,
बढ़ती भूति भुवन की।
होती सरणि[7] प्रशस्त समुन्नति,
की जिससे बहुजन की ।।17।।

1. दु:ख 2. बहुत अधिक; 3. आस्था; 4. कुशलता; 5. रक्षक; 6. इन्द्रियाँ।
7. मार्ग।

अग्नि रूद्र[1] पूषा[2] पविधर[3] को,
आर्यों ने था माना।
समता शक्ति स्वतंत्र भाव को
सब कुछ हमने जाना।
हुआ प्रस्फुटित ज्ञान सम्पदा,
थी प्रभुता समता थी।
संस्कृति को निर्बाध पनपने,
देने की क्षमता थी ॥18॥

रुद्र रहे आराध्य हमारे,
स्तुति चण्डी को गायी।
स्कन्द[4] रहे आदर्श युद्ध में,
जीती तभी लड़ाई।
जब तक वपु में सार धार,
असि में कर कार्मुक भारी।
कटि निषंग[5] परिपूर्ण शरों से,
तब तक यश अधिकारी ॥19॥

नहीं साधुता से अग्रज,
दुष्टों का हृदय खिलेगा।
पराभूति[6] अपमान निरन्तर,
उनके हाथ मिलेगा।
रहे बैठ शम धार दाव पर,
लगी श्रेष्ठ संस्कृति हो।
नहीं यती वह धूर्त अवस्थित,
निपट क्लैव्य[7] अनुकृति[8] हो ॥2· ।

1. शिव; 2. सूर्य; 3. इन्द्र; 4. कार्तिकेय देव सेनापति; 5. तूणीर, तरकश;
6. पराजय; 7. नपुंसकता, पौरुषहीनता; 8. मूर्ति।

त्याग आज सर्व ग्रन्थ पाठ हो अथर्व[1] का।
तेज हो प्रदीप्त भूरि भानु आर्य गर्व का।
सर्व कर्म छोड़ शर्व[2]-मोद का प्रयास हो।
नर्महार[3] शत्रु का अखर्व[4] गर्व ह्रास हो ।।21।।

क्षण संवेग विवेक सूर्य को,
आच्छादित करता है।
नहीं बुद्धि ही बल भी नर का,
कोप त्वरित हरता है।
पहले रिपु के गुण अवगुण,
का ज्ञान सुधी[5] करते हैं।
फिर उसके बल संसाधन का,
ध्यान गुणी धरते हैं ।।22।।

अनुज हमारा शत्रु गदाधर,
दुराग्रही अतिबल है।
कूटनीतिपटु सुबलराजसुत[6],
का उसको छल बल है।
द्रोण रूप में मिली हुई है,
प्रबल प्रहारक क्षमता।
भीष्म रूप दुर्भेद्य कवच की,
इस जग में क्या समता ।।23।।

सिन्धुराज[7] बलसिन्धु दुशासन,
शासन जिसका माने।
वीर विक्रमी नृपति मित्रता में,
जिसकी सुख जाने।
पराक्रमी राधेय ध्येय जिसका,
वयस्य[8] हित रक्षा।
स्वयं नाकपति[9] को दुर्लभ है,
ऐसी सुदृढ़ सुरक्षा ।।24।।

1. अथर्ववेद जो शत्रुविनाश के मंत्रों से युक्त है; 2. शिव; 3. सुख विनाशी; 4. प्रचुर; 5. विद्वान; 6. शकुनि; 7. जयद्रथ; 8. मित्र; 9. इन्द्र।

लक्षित करता सुधी भोग पर,
आग्रह धन सङ्ग्रह को।
जन मानस में छिपी अरुचि को,
आपस के विग्रह को।
प्रति पद क्रम नयज्ञ[1] का होता,
सुविचारित सुनियोजित।
उचित समय पर ही आहव[2],
को करता है आयोजित ॥25॥

जब करता हो मनुज उपेक्षित,
गरिमा अबलाजन की।
मत्तों के गर्जन से दबती हों,
आहें जन जन की।
धर्म प्रतिष्ठा हेतु साधु है,
नर को शस्त्र उठाना।
करके असुरवृत्ति उच्छेदन,
मानव मूल्य बचाना ॥26॥

हरि बोले हैं सरल वृकोदर,
बातें करना रण की।
मानवता की है कुछ चिन्ता,
तुम्हें या कि बस प्रण की।
क्षत[3] से रक्षा करने को ही,
क्षात्र[4] धर्म तुम मानो।
अपकृति[5] जनित रोष छोड़ो,
कुछ जन हित को पहचानो ॥27॥

1. नीतिवेत्ता; 2. युद्ध; 3. हानि; 4. क्षत्रिय धर्म; 5. अपकार।

प्रश्नों के हल कभी मिले हैं,
युद्धों से मानव को।
मन से भी सुदूर रखना है,
इस भीषण दानव को।
जो करता आहूत[1] साधने,
हेतु स्वकीय[2] प्रयोजन।
उसके भी स्वजनों को बनना,
पड़ता इसका भोजन ॥28॥

निज मस्तक उन्नयन[3] हेतु जो,
छिन्न शीर्ष[4] करते हैं।
मात्र क्षुद्र भूखण्ड प्राप्ति हित,
थल[5] शव से भरते हैं।
शस्त्रवृत्ति को मूढ़ जानते,
क्षत्रिय धर्म यही है।
ऐसे बहुसंख्यक मत्तों से,
दुखिता बहुत मही है ॥29॥

खण्ड-खण्ड करने खण्डिनि[6] को,
नर लड़ते आए हैं।
कभी-कभी सन्देह जागता,
क्या ये मनुजाए[7] हैं।
इतने विग्रह हुए गई,
जीवन क्षमता वसुधा से।
तृषा रुधिर की मिटी न,
पाया त्राण अशम्य[8] क्षुधा से ॥30॥

---

1. बुलाता है; 2. अपना; 3. ऊँचा करने हेतु; 4. शिर; 5. स्थल, भूमि;
6. पृथ्वी; 7. मनु की सन्तान; 8. जिसका शमन कठिन हो।

भू[1] से अवनि[2] हुई वसुधा[3] फिर,
अब अक्षमा बनेगी।
मानव के कृत्यों को धरणी[4],
कब तक क्षमा करेगी।
वृश्चिक[5]-सन्तति-वत जननी का,
वपु हम सब चुनते हैं।
वसुमति[6] को मेदिनी[7] बनाकर,
शिर अपना धुनते हैं ॥31॥

मत्तों की श्रेणी में हम भी,
क्या निज नाम लिखाएँ।
अपने कर्मों से जगती[8] को,
ऐसे दिवस दिखाएँ।
तो उद्देश्य भूल जाएँगे,
हम जग में आने का।
खो देंगे अधिकार पुनः,
नर का शरीर पाने का ॥32॥

अतः शान्ति हित एक और,
वार्ता मुझको करने दो।
गहराते रण के मेघों को,
पवन सदृश हरने दो।
स्यात विवेक तरणि[9] फिर मद तम,
को विनष्ट कर चमके।
शस्य श्यामला रहे मही,
जन जन का आनन[10] दमके ॥33॥

---

1. पृथ्वी (अस्तित्व); 2. पृथ्वी (रक्षण); 3. पृथ्वी (धनधान्य युक्त); 4. पृथ्वी; 5. बिच्छू; 6. पृथ्वी (धन से युक्त) 7. पृथ्वी (मांस मज्जा से भरी); 8. पृथ्वी; 9. सूर्य; 10. मुख।

बोले तब धर्मज्ञ[1] बन्धुओं,
यह प्रस्ताव उचित है।
कौरव-कृत-अपकार-जनित,
मन जो अमर्ष[2] सञ्चित है।
उसे न चिनगारी बनने दो,
तुम रण-दावानल की।
महनीयता क्षमा में दिखती,
बल में नहीं प्रबल की ॥34॥

□□

1. धर्म के ज्ञाता युधिष्ठिर; 2. क्रोध।